ARYAVART SHODH VIKAS PATRIKA
ISSN No.: 2347-2944, RNI:UPBIL04292, REG. No.: 561/2013-2014 Vol.-1, No.-1, PP-319-325, YEAR-2014

# समकालीन साहित्य चिंतन का सौन्दर्यशास्त्र

❑ डॉ0 मुन्ना तिवारी

**सार–** *समकालीन साहित्य चिंतन में सौन्दर्य को लेकर व्यवस्थित परिकल्पनाएं उपस्थित हैं। सौन्दर्यशास्त्र किसी एक शास्त्र का उपनिवेश नहीं, खण्ड नहीं, अपितु उसका एवं स्वतंत्र विधान है, जिसमें जीवन, जगत, समाज है तो साथ ही शास्त्र की सैद्धान्तिकीयाँ और बारिकियाँ भी है, जो उसे न केवल अन्य शास्त्रों से अलग करती है, अपितु एक निजी स्वरूप भी प्रदान करती हैं। विद्वानों ने कहीं–कहीं काव्यशास्त्र के एक प्रतिरूप के रूप में इसे व्यवहृत किया है। किन्तु डॉ0 कुमार विमल ने अपनी व्यापक विस्तृत विवेचन करते हुए काव्यशास्त्र से सौन्दर्यशास्त्र के पार्थक्य को भी विरचित किया है। उन्हीं के शब्दों में –"सौन्दर्यशास्त्र के स्वरूप और व्यपदेश को अच्छी तरह ह्रदयगम करने के लिए सौन्दर्यशास्त्र तथा काव्यशास्त्र के अन्तर को समझ लेना आवश्यक है।" इन दोनों शास्त्रों और पार्थक्य को अनेक विचारकों ने विभिन्न भाषा में और विभिन्न प्रकार से उपस्थित किया है। जैसे–जार्ज सन्तायना ने काव्यशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र के अन्तर को निर्दिष्ट करते हुए लिखा है कि काव्यशास्त्री आलोचना में निर्णय की प्रधानता रहती है जब की सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन में प्रतिबंधन या प्रत्यक्षीकरण को प्राथमिकता दी जाती है। क्योंकि सन्तायना की दृष्टि में सौन्दर्यशास्त्र का सर्वाधिक संबंध मूल्य– बोध के साथ है।[1] सौन्दर्यशास्त्र के सन्दर्भ में मूल्य–बोध को इस प्रकार अत्यधिक महत्त्व देने का कारण यह है कि सन्तायना ने सौन्दर्य को मूल्य का ही एक प्रकार माना है।[2]*

यहाँ स्पष्ट है कि सन्तायना की उपर्युक्त मान्यता का मूल्यदर्शन (एक्जियालॉजी) की दृष्टि से जो भी महत्त्व हो, किन्तु यह मान्यता व्यावहारिक दृष्टि से सौन्दर्यशास्त्र और काव्यशास्त्र के अन्तर को निर्दिष्ट करने में असमर्थ है। दूसरी ओर सौन्दर्यशास्त्र और काव्यशास्त्र के स्वरूप तथा पार्थक्य पर एकदम व्यावहारिक दृष्टि से सोचने वाले ऐसे विचारक हैं, जिन्हें किसी प्रकार के दार्शनिक चिन्तन के लिए धैर्यधारण करना स्वीकार नहीं है। उदाहरणार्थ, सैटसबरी ने काव्य–शास्त्रीय आलोचना का इतिहास लिखते समय पहले ही अध्याय में यह धारणा व्यक्त की है कि सौन्दर्यशास्त्र के महत्वाकांक्षी सिद्धान्तों और ह्रदयावर्जक नन्दतिक रंचनाओं को आलोचना के साथ मिला देने पर आलोचनाशास्त्र की अपेक्षित 'निर्णय–भावना' धूमिल और खण्डित हो जाती है।[3]

पाश्चात्य कला सौन्दर्य चेतना अनुकरण की चेतना है, जबकि भारतीय कला सौन्दर्य चेतना अनुकिर्तन की कला सौन्दर्य चेतना है। विद्वानों ने इसके पार्थक्य के ढेर सारे अवलम्बन और उद्धरण सामने रखे हैं, जिसमें सौन्दर्य के साथ पूरा सौन्दर्यशास्त्र भी रूपायित है।

पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र और भारतीय काव्यशास्त्र के अन्तर को स्पष्ट करते हुए डॉ0 के.सी. पाण्डेय ने लिखा है कि भारतीय काव्यशास्त्र में पाश्चात्य सौन्दर्य–शास्त्र की तरह काव्येतर कलाओं के विवेचन की प्रवृत्ति नहीं है। किन्तु, काव्य के क्षेत्र में भारतीय काव्य–शास्त्र को नाटक अधिक प्रिय है, जिसके कारण भारतीय काव्यशास्त्र में अन्य कलाओं का प्रसंगवश उल्लेख हो गया है, क्योंकि नाटक तो काव्य, संगीत, चित्र और स्थापत्य सभी कलाओं का समुच्चय है। भरत की यह उक्ति प्रसिद्ध है –

**न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।**
**न स योगो न तत्कर्म यन्नाट्येऽस्मिन्न दृश्यते।।**[4]

सह आचार्य हिन्दी विभाग, श्री भगवान महावीर पी.जी. कॉलेज, पावानगर, फाजिलनगर, कुशीनगर (उ0प्र0), भारत

अतः भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की प्रारम्भिक सीमा नाट्यशास्त्र है। इस भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की विकास–रेखा को निर्दिष्ट करते हुए यहाँ कहा जा सकता है कि यहाँ सबसे पहले नाट्यशास्त्र का विकास हुआ, दूसरी दशा में काव्यशास्त्र (जिसमें नाट्यशास्त्र भी बातार्थ है) का और अन्त में इन विकास–दशाओं के सभी कारण से सौन्दर्यशास्त्र का आवरण हुआ। तदन्तर, डॉ0 के.सी. पाण्डेय ने भारतीय सौन्दर्यशास्त्र और पाश्चात्य सौन्दर्य–शास्त्र में एक प्रमुख अन्तर बतलाया है कि भारतीय विचारक मूर्तिकला और चित्रकला को उस रूप में स्वतंत्र महत्त्व नहीं देते, जिस रूप में हीगेल या अन्य पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्रियों ने दिया है। भारतीय विचारकों ने प्रायः मूर्तिकला और चित्रकला को स्थापत्य की अंगीभूत कला के रूप में स्वीकार किया है। अतः के0सी0 पाण्डेय का मत है कि भारतीय सौन्दर्यशास्त्र में पाँच नहीं, तीन ही कलाओं (स्थापत्य, संगीत, और काव्य) को महत्व दिया गया है।

कभी–कभी सौन्दर्य–शास्त्र को चित्रकला में ढूँढने का विभ्रम पैदा हो जाता है विशेश रूप में भारतीय चित्रकला के रूपों–स्वरूपों के अध्ययन में वात्स्यायन कृत कामसूत्र के विभिन्न अंगों में यह विभ्रम और गहरा जाता है। वात्स्यायन–कृत कामसूत्र के प्रथम अधिकरण के तृतीय अध्याय की टीका समय यशोधर पण्डित ने चित्रकला केइन प्रसंगों पर विचार किया है। कामसूत्र में चित्रकला के ये प्रसंग वर्णित हैं –

**रूपभेदाः प्रमाणानि भावलावण्ययोजनम्।**
**सादृश्य वर्णिकाभंग इति चित्रम् शडंगकम्।। ('कामसूत्र')**

इन प्रसंगों में तीन भाव, लावण्य–योजना और सादृश्य– काव्य में भी प्रस्तुत महत्त्व रखते हैं। अतः चित्रकला और काव्य की तात्विक समानता उक्त तथ्य से समर्थित होती हैं।

प्रायः अनुभूतियाँ जब विशिश्ट हो जाती हैं तो सौन्दर्यानुभूति का रूप ले लेती हैं। वह उतने ही चेतनागत हो जाती है। जयशंकर प्रसाद ने अपनी कामायनी में इस स्थापना को बल दिया – उज्ज्वल वरदान चेतना का सौन्दर्य, जिसे सब कहते है। इसे ही कुमार स्वामी आगे बढ़ाते है। कुमार विमल ने अपनी पुस्तक सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व में कुमार स्वामी के इस विचारधारा को इस रूप में व्यक्त किया है – "सौन्दर्यनुभूति अन्य अनुभूतियों से विशिष्ट है, क्योंकि सौन्दर्यनुभूति का आविर्भाव दो ही स्थितियों में होती है – सौन्दर्य–सृष्टि में और सुन्दर के अवलोकन या प्रशंसन में। इस विशिष्टता के पक्ष में रोजर फाय का एक तर्क यह है कि सौन्दर्यानुभूति सर्वथा और सर्वथा आनन्दोमुख होती है जबकि अन्य अनुभूतियों का आनन्द से आविर्भाव सम्बन्ध नहीं हे। वस्तुतः यह स्वीकार्य सत्य है कि सौन्दर्यानुभूति का अगर आनन्द से वर्तमान सम्बन्ध न भी हो तो भविश्य सम्बन्ध अवश्य ही रहता है। इसलिए आनन्द कुमार स्वामी ने सौन्दर्यानुभूति को "प्रज्ञानघन आनन्दमयी" अवस्था के रूप को स्वीकार किया है।

आज भारतीय बौद्धिक जगत् में हिंदी साहित्य की एक आक्रमणकारी, हिंसक, सांप्रदायिक, जातिवादी आदि अनेक तरह की छवियाँ गढ़ी जा रही हैं। यह सब इस करीने से गढ़ा जा रहा है कि 'हिंदी साहित्य' और 'साहित्यकार' जैसे शब्द और उनकी निर्मितियाँ संदिग्ध हो चली हैं। 'प्रतिबद्धता' जैसे शब्द का मजाक उड़ाया जा रहा है। साहित्य और उसमें निहित विचार–पद्धतियों को कुछ अवसरवादी जन देश के राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अखाड़े में एक हथियार की तरह इस्तेमाल कर रहे हैं तथा अपने विरोधियों के सार्थक योगदानों को यह कहते हुए निरर्थक बता रहे हैं कि उससे न तो साहित्य जैसी विधा को बचाया जा सकता है और न ही नवीन राष्ट्र के निर्माणमें मदद ली जा सकती है। कारण, पाठ, उनके संदर्भ, उनकी उपयोगिता आदि बोध अब पुराने पड़ चुके हैं। इसीलिए साहित्य में अब न तो पुराने पारंपरिक विचार चल सकते हैं और न ही शोषित जनता के पक्ष में खड़ी मार्क्सवाद जैसी आधुनिक और वैज्ञानिक विचारधाराएँ। उन तथाकथित अवसरवादी जन को यह विश्वास है कि साहित्य को बचाने के लिए उसे वैश्वीकरण जैसी समकालीन और बाजार–केंद्रित प्रक्रिया से जोड़ना जरूरी होगा। शायद कोई उसका स्थिर अथवा प्रचलित मूल्य भी तय करना पड़े, अन्यथा अन्य प्राचीन विधाओं की तरह साहित्य भी संग्रहालय की वस्तु हो जाएगा और ये सारी कारगुजारियाँ इसलिए की जा रही हैं कि वैश्वीकरण जैसी बाजार–केंद्रित प्रक्रिया से साहित्य तो

जुड़ेगा ही, संबंधित समाज भी नए–नए लक्ष्यों को लेकर निर्माण में गतिशील होगा। ऐसा दावा प्रस्तुत करने की कोशिश की जा रही है। ऐसी परिस्थिति में आलोचना के तरह–तरह के औजारों को आजमाती नई पीढ़ी के बेहतर लेखन को एक साथ संयोजित करना एक चुनौती–भरा कार्य था। उस स्थिति में तो और भी, जब पिछले तीन–चार दशकों से साहित्य में स्त्री, दलित और आदिवासी विमर्श सामाजिक परिवर्तन, संघर्श और विकास की प्रक्रिया में अपना एक अलग साहित्यिक रूप स्थिर करने में लगे हों।5 जितेन्द्र श्रीवास्तव कहते हैं :– सौंदर्यशास्त्र का प्रश्न एक बड़ा प्रश्न है। कोई भी सौंदर्यशास्त्र एक दिन में तैयार नहीं होता है। जैसे–जैसे चित्तवृत्तियों में बदलाव होता है, सामाजिक–सांस्कृतिक संरचना में हलचल पैदा होती है, नए ढंग का साहित्य रचा जाने लगता है, वैसे–वैसे नए सौंदर्यशास्त्र की जरूरत बढ़ती जाती है और साथ ही, इसी प्रक्रिया में उसके औजार भी तैयार होते रहते हैं। यह अकारण या एकाएक नहीं है कि हिंदी दलित साहित्य के सौंदर्यशास्त्र का एक प्रारूप बन चुका है। इसके सृजन में दलित रचनाकारों– चिंतकों के अतिरिक्त उन लोगों का भी योगदान है जो लगातार दलित साहित्य पर लिखते रहे हैं और उसके बृहतर सरोकारों के हिमायती रहे हैं।[6]

हिंदी का दलित साहित्य महानता के स्याह अंधेरे की तीक्ष्ण पहचान करता है। यही कारण है कि दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र अपने मूल स्वरूप और आचरण में समाज के स्याह अंधेरे के विरूद्ध उजाले का संदेशवाहक है। यहां वर्ग' से अधिक 'वर्ण' पर बल है क्योंकि यह भारतीय सामाजिक संरचना की एक क्रूर सच्चाई है। पूरा का पूरादलित साहित्य 'वर्ण विद्रोह' का साहित्य है। यही वजह है कि शोषितों–वंचितों के पक्ष में खड़ा मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र भी 'दलित साहित्य' को समझने और समझाने में पूर्णतः सक्षम नहीं हो पाया। इसे ईमानदारी से स्वीकार किया जाना चाहिए। दलित साहित्य के विष्लेशण में 'वर्ग' की समझ से अधिक 'भारतीय जाति व्यवस्था' और उसकी 'क्रूरता' की समझ आवश्यक है। कुछ लोग 'दलित' को 'सर्वहारा' का पर्याय मानकर अध्ययन करने की बात करते हैं। दलित समुदाय सर्वहारा की परिभाषा में पूरी तरह फिट भी होता है लेकिन यहां यह सोचना घातक होगा कि हम इस प्रक्रिया में 'दलित' को जातिगत संरचना से बाहर निकाल लेंगे। नहीं भूलना चाहिए कि भारत में जाति सिर्फ सामाजिक संरचना नहीं, एक मनोगत भाव भी है। जब तक इस 'मनोगत भाव' का पूर्ण विरेचन नहीं होगा तब तक 'एक सवर्ण सर्वहारा' और 'एक दलित सर्वहारा' का विभाजन बना रहेगा और मार्क्सवादी शब्दावली में कोई संवाद संभव नहीं होगा। एक 'दलित सर्वहारा' की पूर्ण मुक्ति तभी संभव होगी जब सामाजिक और मनोगत संरचना में आमूलचूल परिवर्तन होगा। कहना न होगा कि दलित साहित्य इस परिवर्तन के लिए ही संघर्ष कर रहा है और उसका सौन्दर्यशास्त्र इसी संघर्ष की कोख से पैदा हुआ है। यह सौंदर्यशास्त्र ज्ञान, श्रम और अपमान की पीड़ा से निर्मित हुआ है। यह अघाए हुए लोगों का विमर्श नहीं है। 'अतृप्ति','अपमान का दंश' और 'बदलाव का स्वप्न' उसके बीज तत्त्व हैं। यदि इनमें से किसी एक तत्त्व को भी नकार लिया गया तो अधूरापन व्याप्त हो जाएगा और दलित साहित्य को समझने में कई भूलें भी होंगी।[7]

हिंदी दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र मनुष्य की व्यापक मुक्ति का सौंदर्यशास्त्र है। दलित रचनाकारों की कविताएं, कहानियां, उपन्यास और आत्मा को कंपा देने वाली उनकी आत्मकथाएं 'मुक्ति की व्यापकता' का ही पक्ष लेती हैं। दलित साहित्य को पढ़ते हुए ही यह पता चलता है कि शोषण के कितने स्तर होते हैं। दलित समुदाय सदियों से वर्णव्यवस्था के अंधेरे में जी रहा था। दलित विमर्ष ने उन्हें स्वाभिमान का उजाला दिया है और दलित राजनीति ने उनमें संघर्श की चेतना का संचार किया है। 'सदियों का संताप' झेल चुके लोग 'उजाले की इबारत' लिख रहे हैं। यह अकारण नहीं है कि दलित साहित्य 'आत्मा के छिलके' उतारने में पूर्णतः सक्षम है। यह धीरे–धीरे जाति, धर्म, श्रेष्ठता और दिखावे के ढेर सारे छिलकों को उतार रहा है। कहने की जरूरत नहीं कि चेतना–संपन्न मनुष्यधर्मी साहित्य की यही पहचान भी होती है। दलित साहित्य हर प्रकार के छद्म और आवरण के विरूद्ध खड़ा है और जब तक इस रूप में बना रहेगा, उसकी चमक फीकी नहीं पड़ेगी।

अभी तक यह 'सुख' नहीं, विक्षोभ का साहित्य है लेकिन जिस दिन यह 'विक्षोभ' का मार्ग छोड़कर 'सुख' के रास्ते पर निकल जाएगा उस दिन यह नया सौंदर्यशास्त्र अप्रासंगिक हो जाएगा। यहां यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि सुख के रास्ते पर जाने का आशय है वर्चस्ववादी मार्ग पर जाना।[8]

इस तरह की कविताएं समाज को मिलने वाली नई आंख हैं। ऐसी आंख जिस पर भ्रम का कोई पर्दा नही है, और जब यह आंख किसी को मिल जाती है तो एक स्त्री का यह आग्रह और विश्वास देखने और समझने के लिए कोई अतिरिक्त यत्न नहीं करना होता है –

देखो मेरी ओर कि एक औरत हूं मैं रक्त–मांस की बेजान पुतली नहीं सोच और अनुभव का जीवंत संसार हूं मैं (रश्मि रमानी)

स्त्री का स्त्री होना अभिशाप नहीं है, अभिशाप है वे कानून कायदे जो सामाजिक व्यवस्था को परिचालित करते हैं और जिन्होंने उसको कमजोर बना दिया। वह न तो किसी बात में कम है, न अक्षम तो फिर क्यों वह हर बात के लिए पुरूषों का मुँह देखे और उनके द्वारा संचालित हो, क्यों वह बंधुआ मजदूर बने। जब से उसने अपने शक्ति सम्पन्न रूप को पहचान लिया तभी से साहित्य में स्त्री विमर्श का अध्याय शुरू हुआ।

यूँ तो बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही बहुत कुछ लिखा जाने लगा था पर वहाँ देह मुक्ति को प्रधानता दी गई। नई सहस्राब्दि के दस्तक देते ही महिला साहित्यकारों की लेखनी और जोर पकड़ गई। उसका ध्यान समाज की और समस्याओं की ओर भी गया और कई उपन्यास, कहानियाँ, कविताएँ राजनैतिक एवं समाज की ज्वलन्त समस्याओं पर भी लिखी गई, जैसे नासिरा शर्मा का 'जिन्दा मुहावरा', गीतांजलि श्री का 'खाली जगह' शीला रोहेकर का 'ताबीज' उपन्यास, मनीशा कुलश्रेष्ठ का कहानी संग्रह 'कठपुतलियाँ' इन्दु जैन की कविता 'दर्द' आदि।

जहाँ तक स्त्री विमर्श का प्रश्न है अभी भी महिला साहित्यकारों का रूझान उसी ओर अधिक है – उनके लेखन का केन्द्र बिन्दु वही है पर एक नई सोच के साथ। नई सहस्राब्दि के पहले दशक का उत्तरार्द्ध और उसके बाद का लेखन और अधिक परिपक्व व विवेकपूर्ण है। कविताओं से अनामिका, गगन गिल, तेजी ग्रोवर, कात्यायनी, निर्मला गर्ग, नीलेश रघुवंशी आदि की कविताएँ नारी जीवन की विविध संवेदनाओं से जुड़ी है। वन्दना मिश्रा की 'क्यों पूँछा तुमने माँ' और 'तुम जिद करती हो' में नारी की आन्तरिक पीड़ा को देखा जा सकता है। क्षमा कौल, सविता सिंह, अनीता वर्मा, मधु शर्मा आदि कवयित्रियाँ भी नारी संवेदना से जुड़ी हुई है। नीलेश रघुवंशी का 'पानी का स्वाद' नारी जीवन के निजी अतरंग प्रसंगों को व्यक्त करती है। स्नेहमयी चौधरी, प्रेमलता वर्मा की कविताएँ भी स्त्री मन को रेखांकित करती है।

21वीं सदी के पहले दशक के उत्तरार्द्ध के कुछ कविता संग्रह नारी विमर्श की दृश्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उशा वर्मा का काव्य संग्रह 'कोई तो सुनेगा' में स्त्री केममत्व शक्ति और उसके अधिकार को रेखांकित किया गया है।' ममता का उर्ध्वगान करें' की केवल छः पक्तियाँ स्त्री के ममत्व को निरपार देती है –

प्रेम के आवर्त में/बंधकर यह चेतना/प्रवहमान रहे/ महायज्ञ की आहुति में/ जलकर/ममता ऊर्ध्व गान करे।[9]

उशा वर्मा की सोच अन्य महिला लेखिकाओं से कुछ भिन्न है। वे पुरूष के बिल्कुल से नकारती नहीं है – ममता से पहले वे पुरूष के साथ स्त्री प्रेम की भी बात करती है 'तुम्हारी विरासत' कविता में वे स्पष्ट शब्दों में कहती हैं –

मैं तुम्हें दूँगी/जिंदगी का यह टुकड़ा/जो मैं अंधेरे से/बचाकर लाई हूँ। यह तुम्हारी/विरासत है/ और तुम्हारी यात्रा का/ प्रस्थान बिन्दु भी।[10]

अंजना बख्शी का काव्य संग्रह 'गुलाबी रंगों वाली देह' अपने ही अन्दाज में लिखा गया है। इसकी कई कविताएँ अत्यन्त आक्रोशपूर्ण है जैसे 'भुट्टा बेचती लड़की' जिसमें एक ओर मेहनतकश लड़की का चित्रण है जो कोशिश करने पर भी भुट्टे के ग्राहक नहीं पाती, दूसरी ओर उन भेड़ियानुमा लोगों का चित्रण है जो उसकी देह पर ही दृष्टि गाड़े है–

भुट्टा बेचती वह लड़की/भून रही भुट्टे हैं की परत–दर–परत/सेंक रही जैसे/अपना मासूम बचपन/कभी अपने बिखरे बालों को/संभालती तो कभी आँच से बचाती/अपनी नन्ही–नन्ही उँगलियाँ/फिर जोरे से चिल्लाती जोर–जोर से बाबू जी/ ओ बाबू जी/ ले लो न भुट्टा/ तीन रूपये में ले लो/ ले लो।

लेकिन नहीं खरीदता कोई उससे भुट्टा/उनकी नजरें टिकी थी उसके/शरीर की बनावट पर/भुट्टा ले लो न/ फिर वह चिल्लाती है।[11]

और शायद लड़की इसीलिए समझ आ जाने पर अपने लड़की होने से घबरा जाती है–

हुआ जब अहसास/लड़की होने का/सच्चाई एक सामने आ गई/अपने ही प्रतिबिंब से/ न जाने क्यों मैं घबरा गई/ खुद और खुद के दरम्यान/दूरी पा गई/ सिमटती गई दायरों में/सच्चाई जब/मेरे जहन में आ गई हैं।[12]

बेटियाँ के साथ कवयित्री का विशेष जुड़ाव दिखाई देता है– अपने संग्रह की कईकविताओं में उन्होंने बेटियों को मर्म के विभिन्न पहलुओं को रेखांकित किया है – बेटियाँ रिश्तों–सी पाक है। जो बुनती है/एक शाल अपने सम्बन्धों के धागे से/बेटियाँ धान–सी होती है। पक जाने पर/जिन्हें वर जाना होता है। जड़ से अपनी/फिर रोप दिया जाता है जिन्हें/नई जमीन में/बेटियाँ मंदिर की घंटिया होती है जो बजा करती है/ कभी–पीहर/तो कभी सासरे में/बेटियाँ पंतगे होती है/जो कट जाया करती है। अपनी–ही डोर से/और हो जाती है परायी/बेटियाँ टेली स्कोप–सी होती है। जो दिख देती है/दूर की चीज पास।[13]

साहित्य और मनुश्य में अगाध आस्था रखने वाले कवि अब धीरे–धीरे कम हो रहे हैं। हमारे समय में ऐसे कवियों की संख्या बढ़ती जा रही है जो कविता को महज तकनीक समझते हैं और जब जी में आता है, कविता लिख लेते हैं। ऐसे लोगों के लिए कविता ऑक्सीजन नहीं, सुविधा है। लेकिन यह भी सच है कि किसी भी कालखंड में पूरा का पूरा परिदृष्य अकालग्रस्त नहीं होता। चन्द्रकांत देवताले का संग्रह 'पत्थर फेंक रहा हूँ' इसका उदाहरण है। देवताले अपनी पूरी बनावट और भंगिमा में कवि हैं। आरंभ से अब तक उनकी प्रतिबद्धता असंदिग्ध रही है। प्रभात त्रिपाठी ठीक संकेतित करते हैं कि यह कवि धरती को बांझ बनाने की कोशिशों के विरूद्ध सृजनरत है। आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि यह कवि आपसी सहमतियों के इस पतनशील समय में हर तरह के अनावश्यक ठहराव के विरूद्ध कविता को अस्त्र की तरह प्रयोग करते हुए घोशण करता है कि जनाब फूल नहीं, पत्थर फेंक रहा हूँ। अलग से कहने की जरूरत नहीं कि नैतिक अवमूल्यन के अंधेरे समय में ये पत्थर घाव नहीं करते, मरहम लगाते हैं।[14]

समकालीन हिंदी कविता में लोकप्रतिरोध का ही परिणाम रहा है कि यहाँ एक नया सौंदर्यबोध विकसित होता है जिसमें 'सुघड़ता' में नहीं, बल्कि 'अनगढ़ता' में सौंदर्य की तलाश की जाने लगी। इसे गति दी मार्क्सवाद ने। जाहिर–सी बात है कि 'साम्राज्य' के भाँति–भाँति के शोषण को समझने के लिए किसी 'थियरी' की जरूरत थी और यह यहीं से मिली। इसी कारण 30 के दशक में 'मार्क्सवाद' का प्रभाव हिंदी कविता पर दिखाई देने लगता है। इसने हमें बताया कि किसी वस्तु का सौंदर्य उसकी स्थिति में नहीं, उसकी गति में है। यह गति अन्य वस्तुओं से उसके अंत–संबंधों में दिखती है। यह पारंपरिक स्थिति से प्रतिरोध ही था जिसमें सौंदर्य विकेंद्रित होता गया, जिसका विकासस्वाधीन भारत में पंचायती राज के विकेंद्रीकरण के समानांतर होता है। यह बात और है कि यह सौंदर्य साहित्य के स्तर पर तो सफल हो गया, किंतु राजनीतिक स्तर पर असफल। आज 2004 में यह राजनीतिक असफलता यदि अब 'फीलगुड' में बदल गई है, तो इस पर आश्चर्य नहीं होना चाहिए।[15]

उपर्युक्त संदर्भ में देखने से पता चलता है कि समकालीन साहित्य में जीवन–संग्राम का सौंदर्य बड़ा महत्त्वपूर्ण है। कथा साहित्य में प्रेमचंद से लेकर यशपाल तक तथा काव्य में निराला से लेकर नागार्जुन एवं धूमिल तक में इसे देखा जा सकता है। इसी को मुक्तिबोध ने 'प्राकृत होते जाने की अवस्था' कहा है। इसी को हजारीप्रसाद द्विवेदी मानव रचित सौंदर्य कहते हैं, जो बंधन के प्रति विद्रोह है। स्वाधीन भारत में लोक का समकालीन सौंदर्य लोकोत्तर से लोकोन्मुखी होता गया है

क्योंकि मनुश्य के जागृत विवेक के कारण जैसे–जैसे 'धर्म' की सत्ता कम होती गई है, वैसे–वैसे वस्तु का 'अपना' सौंदर्य निखरता गया है। हम कह सकते हैं कि 'धर्म' के दायरे में पहले जो 'भाववादी अमूर्तन' था, उससे वस्तु की अपनी विशिश्टता (भिजता के अर्थ में) का तिरस्कार कर हम 'सामान्य' की अवस्था तक पहुँचते थे, जिसमें छोटी–छोटी सत्ताओं, अस्मिताओं एवं मनोभावों के लिए कोई जगह नहीं थी। आधुनिकता के प्रतिरोध के कारण हम इस 'भाववादी अमूर्तन' से मुक्त होते गए हैं। यह हमारे लिए, लोक के संदर्भ में बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इसी का परिणाम है कि हमारे लिए सौंदर्य वहाँ है जहाँ चोटी का पसीना एड़ी तक आता है, जहाँ खुरदरापन है, अनगढ़ता है। कुल मिलाकर समकालीन हिंदी कविता 'राग' के नहीं, 'विराग' के सौंदर्य से परिपूर्ण है। रामविलास शर्मा ने इसीलिए निराला की कविताओं को 'राग–विराग' के नाम से चयनित किया था। इस संदर्भ में निराला की 'तोड़ती पत्थर', नागार्जुन की 'खुरदरे पैर', अरूण कमल की 'सौंदर्य' तो कविता न होकर खुरदरेपन का शास्त्र ही है।[16]

'गरजता है गगन/ और बिजलियों को देह में सोखने को उद्यत/गरजते हैं धरती की ओर से/ये वृक्ष/ठहरेगा कौन इस राह पर आज/देखेगा कौन इन संघर्शरत वृक्षों का/दुर्द्धर्श सौंदर्य'

आज की लोकसंपृक्ति की सभी कविताएँ इसी दुर्द्धर्श सौंदर्य का विस्तार ही हैंऔर यही मुक्तिबोध की सत्–चित्–वेदना भी है।

इसी खुरदरे सौंदर्य का परिणाम है कि स्वाधीन भारत में कविता के उत्तरोत्तर विकासक्रम में 'श्रम' के महत्त्व को प्रतिश्ठा मिलती गई है। कथा साहित्य में प्रेमचंद से लेकर अखिलेश तक तथा काव्य में निराला से लेकर एकांत श्रीवास्तव (बीच से फूल तक) तक में इसे देखा जा सकता है। इसी श्रमप्रतिष्ठा के कारण आज कबीर, रविदास, निराला, मुक्तिबोध, त्रिलोचन, नागार्जुन से लेकर अरूण कमल एवं ज्ञानेंद्रपति तक समकालीन लगते हैं। याद करें संत रविदास को, मध्यकाल में जब कोई 'वाद' नहीं था, उस समय उन्होंने 'श्रम' को 'ईश्वर' कहा था। चूँकि उस समय ईश्वर एक अनिवार्य एवं अखंड सत्ता के रूप में विद्यमान था, ऐसे समय में उसके समान 'श्रम' को महत्त्व देना, तत्कालीन जीवन–संदर्भों में एक बड़ा सार्थक हस्तक्षेप था। उन्होंने लिखा है : श्रम को ईसर जानि कर जे पूजहिं दिन रैन, रविदास ऐसे दास को सदा मिलहिं सुख चैन। आगे चलकर 'निराला' ने 'तोड़ती पत्थर' कविता में बड़े सुंदर ढंग से उभारा, 'ढुलक माथे पर गिरे सीकर/लीन होते कर्म में फिर ज्यूँ कहा/मैं तोड़ती पत्थर'। यह 'कर्मलीनता' उसी रविदास के श्रम का ही विस्तार है और यह अजब संयोग है कि उन्हीं के समकालीन और संगठित किसान आंदोलन के जनक स्वामी सहजानंद सरस्वती उसी समय में 'भगवान की तलाश करते 'किसान' तक पहुँचते हैं।

कविता के संदर्भ से बहुत सारे उदाहरण भी दिए जा सकते हैं किन्तु प्रकाशित कथाकार अखिलेश की कहानी 'वजूद' (वागर्थ, फरवरी, 04) तथा एकांत श्रीवास्तव के संग्रह 'बीज से फूल तक' में हम पसीने के स्वाद से आगे बढ़कर पसीने की 'महक' तक पहुँचते हैं, तो 'श्रम' को एक नया आयाम मिलता है। एकांत की कविता देखें, 'दिन ब दिन राख होती इस दुनिया में/जो चीज हमें बचाए हुए हैं, वह केवल मनुश्य की महक है' (पत्तों के हिलने की आवाज)।

सौंदर्य के विकेंद्रित रूप में यदि उसकी गति का नया पक्ष 'श्रम' है तो उसकी 'स्थिति' का नया पक्ष 'चरित्र' है। आज की हिंदी कविता में लोक चरित्रों का उभार देखने लायक है आधुनिक काल के विस्तार के साथ इनमें विकास होता गया है। पहले लोक में एकप्रकार की 'सामुदायिक' भावना कार्य करती थी और व्यक्ति के 'निज' की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती थी। सामुदायिकता' में चरित्रों का विशेशीकृत रूप नजरअंदाज हो जाता था। आधुनिक काल में यह निजता उभार पाती है और पारंपरिक मिथकीय एवं पौराणिक चरित्रों का यहाँ लौकिकीकरण होता है। प्रतिरोध का यह रूप बहुत ही आकर्शक है, जिसके प्रतिनिधि आधुनिक काल में निराला बनते हैं। विधवा, भिक्षुक, पत्थर तोड़ती युवती, कुल्लीभाट, विल्लेसुर जैसे चरित्र इसी के विस्फोट हैं। यहाँ चरित्रों के माध्यम से सतह के नीचे चल रही अमानवीयकरण

की प्रक्रिया का बोध होता है। यहाँ लोकचित्रण ही नहीं मिलता, लोक को ठोस रूप देने के संकेत भी मिलते हैं। आगे की कविता में केदारनाथ सिंह (नूर मियाँ, जगरनाथ दुसाध, बूढ़ा गड़ेरिया, बूढ़ा मल्लाह), विजेन्द्र (लादू, बैनी बाबू), मान बहादुर सिंह (गोसाई प्रधान), वीरेन डंगवाल (राम सिंह), ज्ञानेंद्रपति (केदार मलाह, खुंट कढ़वा, खरपत्तू, सगीर मियाँ), हरीशंचन्द्र पांडे (हिजड़े) आदि में इन्हें देखा जा सकता है। ये कविताएँ केवल लोकचरित्रों को निजता ही नहीं देतीं, बल्कि उनके समाज को ताकत भी देती हैं जिनमें वे रहते हैं।[17]

उपर्युक्त संदर्भों के अलावा प्रतिरोध के और भी कई रूप समकालीन हिंदी कविता में दिखाई देते हैं और सब एकरूपता के विरूद्ध 'निजता' के प्रतिरोध ही हैं। वास्तव में नई पीढ़ी के पास अपनी निजता एवं वजूद के लिए इसके अतिरिक्त कोई रास्ता भी नहीं है। अपने तमाम भटकावों के बावजूद यह लोकमन के निकट यदि है, तो हिंदी कविता के प्रति आश्वस्त हुआ जा सकता है। आखिर यह भी तो सच ही है कि परंपरा यदि किसी की चली है तों इन्हीं लोकगंधी कविताओं की।

## सन्दर्भ ग्रन्थ सूची


1. George santatyana the sense of beauty, dever publication in, New York, 1955, P-16.
2. 'Beauty is a speeies of Value' Gearge santayana, the sense of beauty P-20.
3. Gearge Saintes buty : A history of eviti islim, Volume-1 william black wood and son's London the edition chapiter-I, P- 3.
4. नाट्य शास्त्र, भरत–116.
5. जितेन्द्र श्रीवास्तव–विचारधारा नए विमर्श और समकालीन कविता पृ0–27.
6. उपरिवत्, पृ0–28.
7. उपरिवत्, पृ0–28.
8. रमणिका गुप्ता–युद्धरत आम आदमी, पृ0–188.
9. उपरिवत्, पृ0–189.
10. उपरिवत्,पृ0–189.
11. डॉ0 मुन्ना तिवारी–दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र भूमिका,पृ0–14.
12. उपरिवत्, पृ0–16.
13. जितेन्द्र श्रीवास्तव–विचाराधारा नए विमर्श और समकालीन कविता, पृ0–49.
14. उशा वर्मा–कोई तो सुनेगा (साहित्य के दर्पण में स्त्री–सियाराम, पृ0–190).
15. उपरिवत्–पृ0–190.
16. अंजना बख्शी–गुलाबी रंगों वाली देह–पृ0–190.
17. उपरिवत्–
18. उपरिवत्–
19. जितेन्द्र श्रीवास्तव : विचारधारा नये विमर्श और समकालीन कविता पृ0–94.
20. उपरिवत्, पृ0–95.
21. श्री प्रकाश शुक्ल–लोक प्रतिरोध एवं काव्य धर्मिता (साहित्य का सौंदर्यशास्त्र–देवेन्द्र चौबे, पृ0–351.
22. उपरिवत्, पृ0–352.
23. उपरिवत्, पृ0–353.